प्रस्तावना

जब जगद् रचयिता जगदीश्वर ने सब से पहिले मनुष्य की सृष्टि रची थी उस समय मनुष्य का मास्तिष्क एक ऐसा तरल और निर्मल था कि उसमें सच्चिदानंद चैतन्य स्वरूप सत्यसनातन की चैतन्य ज्योति स्वयं ही प्रतिविम्बित होती थी; अतः सबको ही चैतन्य का यथेष्ट बोध होता था क्रम क्रम से वह कदाचारी होता गया पाप का संग हुआ त्यों त्यों उसका मस्तिष्क भी कठिन से कठिनतम एवं मलिन से मलिनतर भाव धारण करता चला गया। अधुनिक काल की तरह पहिले समय में ऐसी आत्मविस्मृति नहीं थी उनका मस्तिष्क सदा जागरूक रहता था। भगवान् शंकराचार्य ने यह दशा देखकर साधारण लोगों में किंचिन्मात्र आत्मबोध उत्पन्न करनेके लिये यह आत्मबोध नामक ग्रन्थ रचा है, इसके पठन पाठन

जैसे जैसे पाप का ध्वंस होगा, वैसे वसे ही मानसान्धकार दूर होकर अन्तःकरण पवित्र हो जायगा और मस्तिष्क भी तरलभाव धारण करता जायगा।

पुस्तक मिलने का पता—

लाला श्यामलाल हीरालाल

मालिक—"श्यामकाशी प्रेस"

मथुरा।

ॐ परमात्मने नमः ।

अथ

आत्मबोधः ।

सान्वय भाषा टीका सहितः ।

श्लोक—तपोभिः क्षीणपापानां शान्तानां वीतरागिणाम् । मुमुक्षूणामपेक्षोऽयमात्मबोधो विधीयते ॥ १ ॥

अन्वयः—तपोभिः, क्षीणपापानाम्, शान्तानाम्, वीतरागिणाम्, मुमुक्षूणाम्, अपेक्षः, अयम्, आत्म बोधः, विधीयते ॥ १ ॥

भाषा-तपस्या करते करते अर्थात् अनेक प्रकार के कठिन व्रतादि करने से जिनके अन्तःकरण से रागद्वेषादि दूर होगये हैं, और पापों का नाश

होगया है, जिनकी चित्तकी वृत्तियां शान्त हो गई हैं, भोग वासनाओं का भी नाश होगया है, जो जन्म मरणादि बन्धनों से मुक्त होकर मोक्ष चाहते हैं। ऐसे पुरुषों के लिये ही यह आत्मबोध नामक ग्रन्थ बनाया गया है।

शंका—सब शास्त्रों में जप तपादि से भी मोक्ष होना लिखा है यहां केवल आत्मज्ञान से ही मोक्ष का उल्लेख क्यों है ?

श्लोक—बोधोऽन्यसाधनेभ्यो हि साक्षा-
न्मोक्षैकसाधनम्। पाकस्य वह्नि
वज्ज्ञानं विना मोक्षो न सिद्ध्यति २

अन्वयः—हि, अन्यसाधनेभ्यः, बोधः, पाकस्य वह्निवत्, साक्षात्, मोक्षैकसाधनम्, यतः, ज्ञानम्, बिना, मोक्षः न, सिद्ध्यति ॥ २ ॥

भाषा—जो जो जप तप कर्म योगादि मोक्ष के साधन हैं उसमें मोक्ष का मुख्य साधन रूप बोध

अर्थात् आत्मज्ञान ही है जैसे पाक बनाने में बर्तन, लकड़ी, जल इत्यादि की आवश्यकता पड़ती है किन्तु पाक में मुख्य कारण अग्नि ही है और जो अन्य कारण हैं वे सहकारी कारण हैं अत एव ज्ञान के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सक्ती। यहां श्रुति प्रमाण है जैसे–" ज्ञानादेव तु कैवल्यम्" "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती है। और अन्य जो उपासना आदि कर्म हैं वे केवल अंतः करण की शुद्धि के लिये हैं जैसा स्मृति में लिखा है कि–"तमसा कल्मषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते।" अर्थात् तपसे अंतःकरण का कल्मष दूर होता है और विद्या से मोक्ष की प्राप्ति होती है॥ २॥

शंका–राजा विदेह आदि तो श्रेष्ठ कर्मोंसेही उच्च गति को प्राप्त हो गये इसलिये श्रेष्ठ कर्म करने से जब अज्ञानका नाश हो जाता है तब स्वयं मुक्ति हो जायगी फिर ज्ञानसे अज्ञानका नाश मानना निरर्थक है।

श्लोक—अविरोधितया कर्म नाविद्यां विनिवर्तयेत् । विद्याऽविद्यां निहन्त्येव तेजस्तिमिरसंघवत् ॥ ३ ॥

अन्वयः—कर्म, अविरोधितया, अविद्याम्, न, विनिवर्तयेत, विद्या, अविद्याम्, तेजः, तिमिरसंघवत्, निहन्ति, एव ॥ ३ ॥

भाषा—कर्म और अविद्या परस्पर एक दूसरे के विरोधी नहीं है इसलिये कर्म अविद्या को दूर करनेमें किसी तरह समर्थ नहीं है किन्तु अविद्या और अविद्या आपसमें एक दूसरे के विरोधी हैं। सुतरां जब प्रकाश का उदय होताहै तब अंधकार का नाश हो जाता है। उसी तरह विद्या अविद्या को दूर करने में समर्थ है। विद्या जैसे शुद्ध मुक्ति स्वरूप हूं यह शुद्ध ज्ञान मैं सुखी हूं, मैं दुखी हूँ, इत्यादि अविद्या को नष्ट करदेता है।

श्लोक—परिच्छिन्नइवाज्ञानात्तन्नाशे स-

ति केवलः । स्वयं प्रकाशते ह्यात्मा
मेघापायेंऽशुमानिव ॥ ४ ॥

अन्वयः—आत्मा, आज्ञानातः परिच्छिन्नः इव, (भाति) तन्नाशे, सति, मेघपाये, अंशुमान्, इव, केवलः स्वयम्, हि, प्रकाशते ॥ ४ ॥

भाषा—अखंड सूर्य मंडल मेघमाला अर्थात् बादलों के समूह से अच्छादित हो जाता है तब उसकी ज्योति जिस तरह जगह २ बादलों के छिद्रों में से प्रकाशित होती है और जब धीरे धीरे हट जाता है तब सूर्य मंडल का पूर्ण प्रकाश हो जाता है। इसी तरह जीव इस अविद्या रूप देह में घिरा रहता है तब तक अखंड आत्मतत्व का ज्ञान नहीं होता और जब अविद्या दूर हो जाती है तब स्वयं ही प्रकाशवान् ब्रह्मरूप प्रतीत होने लगता है।

शंका-अज्ञान के नष्ट होनेपर आत्मा का अद्वितीय होना सिद्ध नहीं होता क्योंकि अज्ञान को

नाश करने वाली वृत्ति का जब ज्ञान होगा तब द्वैत की सिद्धि होगी,

इसका समाधान यह है:-

श्लोक—अज्ञानकलुषं जीवं ज्ञानाभ्यासा-
द्धि निर्मलम्। कृत्वा ज्ञानं स्वयं
नश्येज्जलं कतकरेणुवत् ॥ ५ ॥

अन्वयः—ज्ञान, अज्ञानकलुषम्, जीवम्, हि; ज्ञानाभ्यासात्, निर्मलम्; कृत्वा, जलम्; (निर्मल कृत्वा) कतकरेणुवत्, स्वयम्, नश्येत् ॥ ५ ॥

भाषार्थः—जैसे निर्मली बूटी गदले जलको शुद्ध करके आपभी नष्ट हो जाती है वैसेही ? मैं कर्ता नहीं हूँ मैं भोक्ता नहीं हूं मैं सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ, इस प्रकार का ज्ञान, मैं कर्त्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, इस अज्ञानसे मलिन जो जीवात्मा है उसको निर्मल करके आपभी नष्ट हो जाता है ॥ ५ ॥

जो कदाचित् यह कहो कि संसार तो साक्षात् दीखता हुआ सत्य प्रतीत होता है तो ब्रह्मकी अद्वै-

तता किस प्रकार सिद्ध हो सक्ती है इस शंकाका समाधान करते हैं–

श्लोक-संसारःस्वप्नतुल्यो हि रागद्वेषादि
संकुलः। स्वकाले सत्यवद्भाति
प्रबोधे सत्यवेद्भवत् ॥ ६ ॥

अन्वयः–हि, रागद्वेषादिसंकुलः, संसारः, स्वप्न-तुल्यः स्वकाले, सत्यवत्, भाति, प्रबोधे, सति असत् भवेत् ॥ ६ ॥

भाषार्थः–रागद्वेष आदिसे व्याप्त यह संसार स्वप्नके तुल्य है क्योंकि स्पप्नके समयकी जो अव-स्था है वह स्वप्नकालमेंही सत्यसी दीखतो है किन्तु जब प्रबोध होता है अर्थात् जाग्रत अवस्थाका आरंभ होता है तब आत्मा और ब्रह्मकी एकताके ज्ञानके पीछे एक क्षणमें असत्य दीखने लगता है अतएव मिथ्या जगत्से आत्माकी अद्वैतता में हानि नहीं हो सक्ती है ॥ ६ ॥

जो कदाचित् यह कहो कि जब संसार यथार्थमें मिथ्या ही है तो सत्य और असत्य कब तक और किस प्रकार प्रतीत होता है इसका समाधान करते हैं-

श्लोक-तावत्सत्यं जगद्भाति शुक्तिकारजतं यथा। यावन्न ज्ञायते ब्रह्म सर्वाधिष्ठानमद्वयम् ॥ ७॥

अन्वयः-यावत्, सर्वाधिष्ठानम्, अद्वयम्, ब्रह्म, न, ज्ञायते, तावत्, (एव), जगत्, यथा, शुक्तिकारजतम्, (तथा) सत्यम्, भाति ॥ ७ ॥

भाषार्थः-जैसे जबतक यह ज्ञान नहीं होता है कि यह नील पृष्ठवाली त्रिकोणाकार सीपीहै तभीतक सीपीका रजत (चांदी) सत्यसा दीखता है उसी प्रकार जबतक सबके अधिष्ठान अद्वैत ब्रह्म ज्ञान नहीं होताहै तभीतक यह संसार सत्य दीखताहै और उसके पीछे तो मिथ्याही प्रतीत होने लगती है ॥ ७ ॥

अब दृष्टान्तसे इस बातको दृढ करते हैं कि सम्पूर्ण जगत ब्रह्ममें कल्पित है-

श्लोकः-सच्चिदात्मन्यनुस्यूते नित्ये विष्णौ प्रकल्पिताः। व्यक्तयो विविधाः सर्वा हाटके कटकादिवत् ॥८॥

अन्वयः-सच्चिदात्मनि, अनुस्यूते, नित्ये, विष्णौ, सर्वाः, विविधाः, व्यक्तयः, हाटके, कटकादिवत्, प्रकल्पिताः ॥ ८ ॥

भाषार्थः-सच्चिदानन्द आत्मा अनुस्यूत अर्थात् जैसे मणियोंमें सूत्र पुहा रहताहै और मणि सूत्र में अनुगत है इस प्रकार सबमें नित्य और व्यापक है और जगत्की अनेक प्रकारकी व्यक्तियां अर्थात् देव मनुष्य कीटादि उसमें ऐसे कल्पित हैं जैसे सुवर्ण में कटक कुंडलादि परंतु यथार्थ में सुवर्ण ही सत्य है इस लिये नामरूपात्मक मिथ्या है और आत्मा शुद्धस्वरूप है ॥ ८ ॥

जो कहो कि प्रपञ्च तो मिथ्या है और जीवभेद सत्य है इसलिये प्रपञ्चका अधिष्ठानरूप जो परमात्मा है उसे सत्य और अद्वितीय कैसे कहें इस शंका का समाधान सुनो-

श्लोकः-यथाकाशो हृषीकेशो नानोपाधिगतो विभुः। तद्भेदाद्भिन्नवद्भाति तन्नाशे सति केवलः ॥ ९ ॥

अन्वयः-यथा, नानोपाधिगतः, विभुः, आकाशः, तद्भेदात्, भिन्नवत् भाति तन्नाशे, सति, केवलः, हृषीकेशः, [अस्ति] ॥ ९ ॥

भाषार्थः-जैसे आकाश तो व्यापकरूप है किंतु घट आदि उपाधियों में प्राप्त होने से उसी उपाधिके भेदसे घटाकाश इत्यादि प्रतीत होता है और घटादि पदार्थों के नष्ट होनेपर केवल आकाश मात्र शेष रहजाता है उसी प्रकार हृषीकेश अर्थात् संपूर्ण इंद्रियों का परमात्मा अनेक प्रकारकी देहादि

उपाधियों में प्राप्त होने से भिन्न २ प्रतीत होता है किन्तु उपाधियों के नष्ट होनेपर केवल एक अद्वितीय असंग ब्रह्मही रह जाता है ॥ ९ ॥

जो यह कहो कि आत्मा तो "मैं ब्राह्मण हूँ" "मैं सन्यासी हूं" इत्यादि जाति वर्ण आश्रम आदि अनेक प्रकारके धर्मोंसे युक्त प्रतीत होता है फिर आत्मा को असंग कैसे ठहराते हो। इस शंकाका समाधान सुनो।

श्लोक-नानोपाधिवशादेव जातिनामाश्रमादयः। आत्मन्यारोपितास्तोये रसवर्णादिभेदवत् ॥ १० ॥

अन्वयः—नाना; उपाधिबशात् एव, तोये, रसवर्णादिभेदवत् आत्मनि; जातिनामा श्रमादयः, आरोपिताः (सन्ति) ॥ १० ॥

भाषा—ऊपर कही हुई अनेक प्रकारकी उपाधियोंके वशसे जाति नाम आश्रमादिक आत्मा में रख

लिये गये हैं यथार्थमें नहीं है जैसे जलमें कडुआ, मीठा, कषैला, रस घोल देनेसे उस जलका स्वाद वैसाही लगने लगता है और नील पीत आदि रंग घोल देनेसे नीला पीला दीखने लगता है सो यह बात केवल दूसरी वस्तूके मिला देनेसे होती है परन्तु जलमें कोई विकार नहीं है इसका गुण तो यथार्थमें श्वेत और मिष्ठ है उसी प्रकार अनेक उपाधिगत होने से आत्मा में भी अनेक जाति नाम और आश्रयादि आरोपित कर लिये गये हैं; वास्तव में जैसे जल निर्मल और शुद्ध है वैसे ही आत्मा भी शुद्ध और निर्मल है।

श्लोक-पञ्चीकृतमहाभूतसम्भवं कर्मसं-
चितम् । शरीरं सुखदुःखानां
भोगायतनमुच्यते ॥ ११ ॥

अन्वयः—पञ्चीकृत महाभूत सम्भवम्, कर्मसंचितम् शरीरम्, सुखदुखानाम्; भोगायतनम्, उच्यते ॥ ११ ॥

भाषाः—पञ्चीकरण किये गये जो पृथ्वी आदि पञ्चभूत जगत्के उपादानकारण उनसे उत्पन्न हुआ और प्रारब्धके कर्मोंसे संचित अर्थात् रचित् जो शरीर सो सुखदुख भोगनेका स्थान है ॥ ११ ॥

श्लोक-पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियस-
मन्वितम् ॥ अपंचीकृतभूतोत्थं
सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम् ॥ १२ ॥

अन्वय—पंचप्राणमनोबुद्धि दशेन्द्रिय समन्वितम्, अपंचीकृतभूतोत्थम्, सूक्ष्माङ्गम्, भोगसाधनम् (उच्यते) ॥ १२ ॥

पंच प्राण (प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान) मन, बुद्धि, तथा दशेन्द्रिय ।

पंच ज्ञानेन्द्रिय (आंख, कान, नाक, जीभ, त्वचा) और पाँच कर्मेन्द्रिय (गुह्य, लिंग, हस्त, पदआस्य) ये सब मिलकर सत्रह अंगों से युक्त अपंचीकृत भूतगठित सूक्ष्म देह साधनहै ॥ १२ ॥

श्लोक-अनाद्यविद्याऽनिर्वाच्या कारणो-
पाधिरुच्यते । उपाधित्रितयाद-
न्यमात्मानमवधारयेत् ॥ १३ ॥

अन्वय-अनिर्वाच्या, अनाद्यविद्या, करणो-पाधि, उच्यते, आत्मानम्, उपाधित्रितयात् अन्यम्, अवधारयेत् ॥ १३ ॥

भाषा-अनादि और अनिर्वाच्या जो अविद्या उसी को कारण रूप उपाधि दी गई है, परन्तु आत्मा को ऊपर लिखी हुई स्थूल सूक्ष्म और कारण इन तीन उपाधियों से भिन्न जानना चाहिये आत्माको तीन उपाधियोंसे भिन्न वर्णन कियाहै सो ठीक नही क्योंकि " स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः,, अर्थात् वह एक पुरुष अन्नरसमय है इस श्रुतिके प्रमाणसे कोशही आत्मा प्रतीत होता है। तहां इस शंकाका समाधान करते हैं —

श्लोक-पंचकोशादियोगेन तत्तन्मय इव
स्थितः। शुद्धात्मा नीलवस्त्रादी-
योगेन स्फटिको यथा ॥ १४ ॥

अन्वयः—यथा, स्फटिकः, नीलवस्त्रादियोगेन, तत्तन्मयः, इव, (भाति), तथा, शुद्धात्मा, पञ्च-कोशादियोगेन (तत्तन्मयः इव) स्थितः (अस्ति) ॥ १४ ॥

भाषा—जैसे स्फटिक नीले पीले आदि वस्त्रों के संयोग से नीला पीला आदि रंगों से युक्त प्रतीत होता है वास्तव में स्फटिक स्वच्छ सफेद है इसी तरह आत्मा भी निर्मल और शुद्ध है वह पंच कोशादि के योग से कोशरूप प्रतीत होता है।

पंच कोश ये हैं, यथाः—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, बिज्ञानमय, और आनन्दमय। इन्हीं पांचों कोशों के योग से आत्मा भी ततन्मय तुल्य दिखाई देता है।

(१) अन्नमयकोष—पिता माता के द्वारा भोजन किये हुए अन्न के विकार से समुत्पन्न और अन्नही के द्वारा परिवर्द्धित जो स्थूल देह है उसी का नाम अन्नमय कोष है। इसी अन्नमय कोष के अभ्यास से मैं स्थूल हूँ, मैं कृष हूँ, आदि शरीर धर्म जीवात्मा में समारोपित्त किये जाते हैं।

(२) प्राणमयकोष—देहेन्द्रिय द्वारा चेष्टा साधन प्राण अपानादि पंच वायु तथा पंच कर्म में पंचेन्द्रिय के साथ हस्त पदादि प्राणमय कोष कहलाता है। प्राणमय कोषधर्म के अभ्यास से मैं यह काम करता हूं, मैं इस काम को नहीं करता हूं, मैं भूखा हूँ, मैं प्यासा हूं, इत्यादि प्राणधर्म जीवात्मा में समारोपित होते हैं।

(३) मनोमयकोष—आंख, कान आदि पंच ज्ञानेन्द्रिय सहित मनको मनोमय कोष कहते हैं इसके द्वारा सन्देह शून्य आत्मा की संशयपूर्णता अध्यास होती है।

[४] विज्ञानमय कोष-पांच ज्ञानेन्द्रियों के साथ बुद्धि को विज्ञानमय कोष कहते हैं, मैं कर्ता हूं, मैं भोक्ता हूं, मैं ज्ञानी हूं मैं मुर्ख हूं, इत्यादि विज्ञानमय प्रतीत होता है।

(५) आनन्दमय कोष—कारण देह अथवा अविद्या का दूसरा नाम आनन्दमय कोष है, इस आनन्दमय कोष के कारण ही आमोद शून्य आत्मा के अनेक प्रकार के आमोद आरोपित्त होते हैं, जैसे मैं सुखी हूँ॥ १४ ॥

श्लोक-वपुस्तुषादिभिः कोशैर्युक्तं युक्त्याऽवघाततः। आत्मानमन्तरं शुद्धं विविच्यात्तण्डुलं यथा ॥ १५ ॥

अन्वयः-यथा, तुषादिभिः, [युक्तम्], तण्डुलम्, वपुः, अवघाततः, [तथा], कोशै युक्तम्, अन्तरम्, शुद्धम्, आत्मानम, युक्त्त्या, विचच्यात् ॥ १५ ॥

भाषार्थ—कूटने से जिस तरह तंडुलादि अन्न के छिलके दूर होकर भीतर से शुद्ध और निर्मल दाने निकल कर ग्रहण किये जाते हैं उसी तरह बिचारयुक्ति के अवघात द्वारा कोष रूप छिलकों से ढकी हुई आत्मा को अलग करके विमल आत्म-तत्व की विवेचना की जाती है। यह देह आत्मा नहीं है, यह जड पदार्थ है अतएव जन्म से पहिले और मरनेके पीछे इसका अभाव होता है। ये प्राणभी आत्मा नहीं है ये वायु है इस लिये जड़ पदार्थ है अतएव अनित्य है यह मन भी आत्मा नहीं है काम क्रोधादि वृत्तियों द्वारा इसका विकार घटित है। बुद्धिभी आत्मा नहीं है। क्योंकि सुषुप्ति काल में अपनी कारणगत अविद्या में यह लीनता को प्राप्त हुए देखा जाता है, एवं आनन्द मय कोषरूप यह कारण शरीर भी आत्मा नहीं है क्योंकि यह समाधि प्राप्त हो जाता है इस लिये क्षणस्थायी इस पंचकोष से पृथक् और तद्विपरीत

लक्षण विशिष्ट पूर्ण चिदानन्द ही आत्मपद वाच्य है ॥ १५ ॥

शंका-आत्मा तो ब्रह्मरूप और सर्वत्र व्यापक लिखी है फिर सर्वत्र प्रतीत क्यों नहीं होती है इस का समाधान यह है।

श्लोक-सदा सर्वगतोऽप्यात्मा न सर्वत्रावभासते । बुद्धावेवावभासेतस्वच्छेषु प्रतिबिम्बवत् ॥ १६ ॥

अन्वयः—आत्मा, सदा, सर्वगत, आप, सर्वत्र न, अवभासते, स्वच्छेषु, प्रतिबिम्बवत, बुद्धौ, एव अवभासेत ॥ १६ ॥

भाषा-आत्मा सर्वदा सब जगह व्याप्त तो है किन्तु सर्वत्र प्रतीत नहीं होता उसका भास केवल निर्मल बुद्धिमेंही पडता है जैसे घटपटादिको छोड़ मुखका प्रतिबिम्ब केवल दर्पणमें ही पड़ता है और

देखो सूर्यका प्रकाश सर्वत्र है किन्तु उसका प्रति-
बिंब केवल निर्मल जलमेंही पड़ता है जलरहित घटपटादि में नहीं पडता है। इससे यह बात सिद्ध है कि देह आदि रजोगुणके मलीन कार्यही उनमें आत्मा प्रतीत होता नहीं केवल स्वच्छ बुद्धिमें दिखलाई देता है ॥ १६ ॥

अब इस बातको दृष्टान्तद्वारा वर्णन करतेहैं कि देह इंद्रियादिमें आत्मा वर्त्तमान होने पर भी उनसे भिन्न है—

श्लोक-देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्रकृतिभ्यो वि
लक्षणम् । तद्वृत्तिसाक्षिणं विद्या-
दात्मानं राजवत्सदा ॥ १७ ॥

अन्वयः-आत्मानम् सदा, राजवत् देहेन्द्रिय-मनोबुद्धिप्रकृतिभ्यः, विलक्षणम्; तद्वृत्तिसाक्षिण विद्यात् ॥ १७ ॥

भाषा-जैसे राजा सभामें स्थित होकर संपूर्ण

मनुष्योंका साक्षी और प्रेरक है और उनसे भिन्न है उसी प्रकार आत्माकोभी सर्वदा देह इन्द्रिय मन बुद्धि और प्रकृति कहिये माया इनसे भिन्न और इन्द्रियादिके जो दर्शन स्पर्शनादि व्यवहार हैं, उनका सक्षी जानना चाहिये ॥ १४ ॥

शंका—आत्मा सबका साक्षी भूत नहीं हो सक्ता क्योंकि वह तो देहेन्द्रियादिसमूह में व्यवहार करता हुआ प्रतीत होता है और साक्षी, साक्ष्यपदार्थों से भिन्न होता है इस का समाधान यह है।

श्लोक-व्यापृतेष्विन्द्रियेष्वात्मा व्यापारी

वाऽविवेकिनाम् । दृश्यतेऽभ्रेषु

धावत्सु धावन्निव यथा शशी ॥१८॥

अन्वयः-यथा, अभ्रेषु, धावत्सु, (सत्सु), शशी, धावन्, इव, दृश्यते, [तथा, एव] अविवेकिनाम्, इन्द्रियेषु, व्यापृतेषु, आत्मा, व्यापारी, इव, (दृश्यते) ॥ १८ ॥

भाषा–जैसे जब आकाश में पवनके वेगसे बादल चलते हैं तब अज्ञानी पुरुषोंको चन्द्रमा दौड़ता हुआ प्रतीत होता है और यथार्थमें चन्द्रमा दौड़ता नहीं उसी प्रकार जब इन्द्रियां व्यवहार करती है तव अज्ञानी पुरुषों का आत्मा व्यवहार करता है ऐसा दीखता है परन्तु वास्तव में आत्मा-में कोई भी व्यापार नहीं केवल अविवेकियों को भ्रम है ॥ १८ ॥

श्लोक-आत्मचैतन्यमाश्रित्य देहेन्द्रिय
मनोधियः। स्वकीयार्थेषु वर्त्तन्ते
सूर्यालोकं यथा जनाः ॥ २६ ॥

अन्वयः-यथा, जनाः, सूर्यालोकम्, आश्रित्य, स्वकीयार्थेषु, वर्त्तन्ते, (तथा, इव), देहेन्द्रियमनोधियः, आत्मचैतन्यम्, (आश्रित्य, स्वकीयार्थेषु, वर्त्तन्ते) ॥ १६ ॥

भाषार्थ-जैसे सम्पूर्ण जन जब सूर्यका प्रकाश

होजाता है तब उसके आश्रय से अपने २ कार्यों में लगते हैं वैसेही देह इन्द्रिय मन बुद्धिभी आत्मा के चेतनताका आश्रय लेकर अपने २ व्यापार करने लगते हैं अत एव जब देह इन्द्रिय आदि में स्वतः चेतनता नहीं है और उनमें आत्मचैतन्य प्रतीत मात्र होता है तो वे आत्मस्वरूप नहीं हो सक्ते ॥ १६ ॥

अब जो यह कहो कि ऊपर कहे हुए वाक्य से आत्मा चेतनरूप तो निश्चित होगया परन्तु उसमें जन्म, मरण, यौवन, वृद्ध, काण, बधिर आदि व्यवहार प्रतीत होते हैं इस कारण आत्मा जन्म मृत्युवाला प्रतीत होता है तहां कहते हैं कि—

श्लोक-देहेन्द्रियगुणान् कर्माण्यमले स-
च्चिदात्मनि । अध्यस्यन्त्यविवे-
केन गगने नीलिमादिवत् ॥ २० ॥

अन्वयः-देहेन्द्रियगुणान्, कर्माणि, (च);

अमले, सच्चिदात्मनि, अविवेकेन, गगने, नीलिमा-
दिवत्ः अध्यस्यन्ति ॥ २० ॥

भाषार्थः-अज्ञानी पुरुष इन्द्रियों के जो धर्म अर्थात् अन्धत्व बधिरत्व और गमन आदि कर्म हैं उनको निर्मल (अर्थात् अज्ञानता के कार्य देह, इंद्रिय, नाम, रूप संसार आदिरूपी मलसे रहित) ऐसे सच्चिदानंदस्वरूप आत्मामें इस प्रकार अज्ञानसे आरोपण कर लेते हैं जैसे निर्मल आकाश में नील पीत आदि रंगोंको मानते हैं सो यह केवल अज्ञान मात्र है बाकी आत्मामें जन्म मरण आदि कोई धर्म नहीं है ये धर्म तो देह आदि में होते हैं ॥ २० ॥

जो कदाचित् यह शंका करो कि यद्यपि आत्मामें देह इन्द्रिय के जन्ममरणादि कुछ नहीं हैं तथापि " मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूं, मैं भोक्ता हूँ" इत्यादि प्रतीत होते हैं इस लिये आत्माको कर्ता भोक्ता मान-ना चाहिये जैसा कि न्यायमतावलम्बियोंने माना है

क्योंकि कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि अंतःकरणके धर्म हैं और अंतःकरण और आत्माकी एकरूपताके भ्रमसे आत्मामें माने गयेहैं इसका समाधान करतेहैं—

श्लोक—अज्ञानान्मानसोपाधेः कर्तृत्वादीनि चात्मनि । कल्प्यन्तेऽम्बुगते चन्द्रे चलनादिर्यथाम्भसः ॥ २१ ॥

अन्वयः—यथा, अम्भसः, चलनादिः अम्बुगते, चंद्रे, (कल्प्यते), (एवमेव, अज्ञानात्, मानसोपाधेः कर्तृत्वादीनि, च, आत्मनि, कल्प्यते ॥२१॥

भावार्थः—जलके जो चलने आदि धर्महै उनको जैसे जलमें पड़ा हुआ जो चन्द्रमा का प्रतिबिंब है उसमें कल्पना करतेहैं और यथार्थ में चन्द्रमा के विषे नहींहै उसी प्रकार अज्ञानसे मनकी उपाधि अर्थात् अंतःकरणके, 'मैं कर्ताहूँ, मैं भोक्ताहूँ" आदि धर्म आत्मामें कल्पना किये जाते हैं परन्तु वास्तवमें आत्माके विषे कोई कर्तृत्व आदि धर्म नहीं है॥२१॥

अब जैसे आत्मामें कर्तृत्व भोक्तृत्व कल्पना कर लिये जाते हैं वैसेही अंतःकरणके जो रागद्वेषादि-धर्म हैं उनकी कल्पना भी आत्मामें केवल अज्ञानसे है यथार्थमें नहीं है इसको अन्वयव्यतिरेकसे वर्णन करते हैं—

श्लोक-रागेच्छासुखदुःखादिबुद्धौ सत्यां
प्रवर्तते । सुषुप्तौ नास्ति तन्नाशे
तस्माद्बुद्धेस्तु नात्मनः ॥ २२ ॥

अन्वयः—बुद्धौ, सत्याम्, रागेच्छासुखदुःखादिः प्रवर्तते, (यतः), सुषुप्तौ, तन्नाशे, नः अस्ति, तस्मात्, (रागेच्छासुखदुःखादिः), बुद्धेः, (अस्ति) आत्मनः न ॥ २२ ॥

भाषार्थः—राग इच्छा सुखदुःख आदि ये संपूर्ण धर्म बुद्धिके हैं सो जब जाग्रत और स्वप्नावस्थामें बुद्धि रहती है तब ये उत्पन्न होते है और सुषुप्ति अवस्थामें बुद्धिका नाश होनेपर कोई धर्म प्रवृत्त

नहीं होता है इसलिये सब धर्म बुद्धिकेही हैं आत्माके नहीं हैं कारणके होनेपर कार्यके होनेको अन्वय कहते हैं और कारके न होनेपार कार्यकाभी न होना इसको व्यतिरेकी कहते हैं, यहां जाग्रत् और स्वप्नावस्थामें जब कारणरूप बुद्धि रहती है तब कार्यरूप रागद्वेषादिभी होते हैं और सुषुप्ति अवस्थामें कारणरूप बुद्धि रहती नहीं है क्योंकि अज्ञानमें लय हो जाती है इसलिये कार्यरूप रागद्वेषादि नहीं होते हैं यही व्यतिरेकता है अत एव आत्मा निर्विकार सच्चिदानन्दस्वरूप है ॥२२॥

अब आत्मा से स्वभाव का वर्णन करते है—

श्लोक-प्रकाशोऽर्कस्य तोयस्य शैत्यम-
ग्नेर्यथोष्णता। स्वभावः सच्चिदा-
नन्दनित्यनिर्मलतात्मनः॥२३॥

अन्वयः—यथा, अर्कस्य, प्रकाश, तोयस्य, शैत्यम् अग्नेः, उष्णता, स्वभावः, (तथा, एव) आत्मनः

सच्चिदानन्दनित्यनिर्मलता, (स्वभावः) ॥ २३ ॥

भाषार्थः—जैसे सूर्यका स्वभाव प्रकाश है जलका स्वभाव शीत है अग्निका स्वभाव उष्ण है वैसे ही आत्मा का स्वभाव सच्चिदानन्द और नित्य निर्मल है ॥ २३ ॥

कदाचित् यह शंका करो कि आत्मा तो "मैं सुखी हूँ" " मैं दुःखी हूँ" इत्यादि अनुभवसे सुख दुःख आदि आश्रय प्रतीत होता है उसको तुम सच्चिदानन्द निर्विकार कैसे कहते हो इसका समाधान करते हैं—

श्लोक-आत्मनः सच्चिदंशश्च बुद्धेर्वृत्ति-
रिति द्वयम् । संयोज्य चाविवेकेन
जानामीति प्रवर्तते ॥ २४ ॥

अन्वयः—आत्मनः, सच्चिदंशः, बुद्धेः, वृत्तिः, च, इति, द्वयम्, अविवेकेन, संयोज्य, जानामि, इति, प्रवर्तते ॥ २४ ॥

भाषार्थः—प्रत्यगात्मा, आत्माका वह सत् चित् अंश है जो बुद्धिकी वृत्तिमें आत्माकी छाया पड़ती है और अज्ञानरूप आनन्दका अंश जो बुद्धिकी वृत्ति है इन दोनोंको एकत्र करके जीव "मैं दुःखी हूं, मैं सुखी हूँ" आदि अज्ञानसे मानता है परन्तु यथार्थमें आत्मा असंग है और उसमें किसीका संवन्ध नहीं है अतएव उसमें श्रवण, सुख, दुःख आदि नहीं हो सक्ते क्योंकि बुद्धिका परिणाम ज्ञान और सुखाकर है वृत्ति और यही कारण है कि ज्ञान आदिका आश्रय बुद्धि है और आत्मा नहीं है और जो आत्मामें ज्ञान सुख आदि प्रतीत होते हैं सो बुद्धि और आत्मा एकरूपतासे दीखते हैं वह केवल भ्रम है क्योंकि आत्मा तो निर्विकार सच्चिदानन्दका रूप है ॥ २४ ॥

अब आत्माका निर्विकारत्व और सच्चिदानन्द रूपत्व वर्णन करते हैं ।

श्लोक-आत्मनो विक्रिया नास्ति बुद्धेर्बोधो न जात्विति। जीवः सर्वमलं ज्ञात्वा कर्त्ता द्रष्टेति मुह्यति ॥२५॥

अन्वयः—आत्मनः, विक्रिया, न, अस्ति, बुद्धेः, जातु, बोधः, न, (अस्ति) इति, जीवः सर्वमलम्, ज्ञात्वा, कर्त्ता, द्रष्टा, इति, मुह्यति ॥ २५ ॥

भाषार्थः—आत्मामें किसी प्रकारका विचार नहीं है और बुद्धिमें कदापि ज्ञान नहीं है। यह जीव अपनेमें सबको जानकर "मैं कर्त्ता हूँ, मैं द्रष्टा हूँ" इस प्रकार केवल मोहको प्राप्त होता है। और ऐसाही श्रुतिमें भी लिखा है कि "निर्गुणं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्" अर्थात् आत्मा निर्गुण क्रियारहित शान्तस्वरूप निष्पाप और निर्मल है। और गीतामें भी यह लिखा है कि "अव्यक्तोयमचिंत्योयमविकार्योयमुच्यते ॥" अर्थात् आत्मा अव्यक्त अचिन्त्य और विकार

रहित है। और बुद्धिमें ज्ञान यों नहीं है कि बुद्धि माया का कार्य होनेमें जड़ है तोभी अन्तः करणमें प्रतिबिम्बित जो चेतन की चेतना है उससे देह इन्द्रियाद संपूर्ण जड़ पदार्थ चेतनरूपसे प्रतीत होते हैं और यही कारण है कि जब बुद्धि और बुद्धिके कर्ता भभोक्ता आदि धर्म आत्मों में भ्रमसे दीखते हैं॥ २५ ॥

अब आत्मामें मिथ्या आरोपित अज्ञानका फल और तत्वज्ञानका फल कहते हैं—

श्लोक—रज्जुसर्पवदात्मानं जीवं ज्ञात्वा भयं वहेत्। नाहं जीवः परात्मेति ज्ञातं चेन्निर्भयो भवेत्॥ २६ ॥

अन्वयः—(पुरुषः), आत्मानम्, रज्जुसर्पवत, जीवम्, ज्ञात्वा, भयम्, बहेत्, अहम, जीवः, न, (किन्तु), परात्मा, इति, ज्ञातम्, चेत निर्भयः, भवेत् ॥ २६ ॥

भावार्थः—जैसे पुरुष अँधेरेमें पड़ी हुई रस्सी को भ्रमसे सर्प जानकर डरने और कांपने लगता है वैसेही मनुष्य आत्माको अज्ञानसे जीव मानकर संसार के अनेक दुःखों को सहता है और जब पुरुषको यह ज्ञान हो जाय कि मैं जीव नहीं हूँ किन्तु परमात्मा हूं तब निर्भय हो जाता है और ऐसाही श्रुतिमें भी कहा है कि 'द्वीतीयाद्वै भयं भवति' अर्थात् पुरुषको द्वैतज्ञानसे निश्चय भय होता है और 'उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' अर्थात् अपने और आत्मामें जो भेद मानता है उसको जन्ममरणादि भय होते हैं। और भी कहा है कि "न चेदवेदीन्महती विनष्टिः" अर्थात् जिसको आत्मस्वरूपका ज्ञान नहीं हुआ उसकी बहुत हानि हुई। फिर स्मृतिकाभी वाक्य है कि" ईषदप्यन्तरं कृत्वा रौरवं नरकं व्रजेत्" अर्थात् जीवात्मा परमात्मा में थोडाभी अन्तर करने से मनुष्य रौरव नरकमें जाताहै। और जब मनुष्यको "तत्वमसि"

आदि वाक्यों से ऐसा होजाता है कि मैं जीव नहीं हूं किन्तु अखण्ड सच्चिदानन्द जगत्साक्षी असंग परमात्मा परब्रह्मस्वरूप हूं तब उसका जन्म-मरणादि भय दूरहै और ऐसाही श्रुतिमें भी लिखा है कि 'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति' अर्थात् जो ब्रह्मको जानता है वह ब्रह्मही हो जाताहै ॥ २६ ॥

जो कदाचित् यह कहो कि आत्मा तो मन और बुद्धिके निकटही है फिर बुद्धि आदि को आत्मा प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता है तहां कहते हैं कि-

श्लोक-आत्मावभासयत्येको बुद्ध्यादी
नीन्द्रियाणि च । दीपो घटादिव
त्स्वात्मा जडैस्तैर्नावभास्यते २७

अन्वयः—एकः; आत्मा; इंद्रियाणि; बुद्धियादीति, च, दीपः, घटादिवत्, अवभासयति, तैः; जडैः,

(इंद्रियादिभिर्बुद्ध्यादिभिश्च); स्वात्मा, न, अव-भास्यते ॥ २७ ॥

भाषार्थः—सम्पूर्ण इन्द्रियों को और बुद्धि आदि-को केवल एक आत्माही इस प्रकार प्रकाशित करताहै कि जैसे दीपक घटादिवस्तुओं को और मन बुद्धि आदि जो जड़ पदार्थ हैं उनसे आत्मा प्रकाशित नहीं होता है कि जैसे घटादि मलिन पदार्थ दीपकको प्रकाशित नहीं कर सक्ते अत एव यह बात सिद्ध हुई कि आत्मा तो मन बुद्धि आदिका साक्षी है और उनको जानता है और मन बुद्धि आदि जड पदार्थ आत्माके स्वरूपको नहीं जानते ॥ २७ ॥

जो कदाचित् यह कहो कि जब आत्मा बुद्धि करके प्रकाशित नहीं होता है फिर आत्मास्वरूपका किस प्रकार ज्ञान हो सकता है तहां समाधान करते हैं—

श्लोक–स्वबोधे नान्यबोधेच्छा बोधरूप-
याऽऽत्मनः । न दीपस्यान्यदीपे-
च्छा यथा स्वात्मा प्रकाशते ॥२८॥

अन्वयः–यथा, दीपस्य, अन्यदीपेच्छा, न, (भवति), (तथा), आत्मनः, बोधरूपतया, स्वबोधे, (आत्मनि), अन्यबेधेच्छा, न, (किन्तु), स्वात्मा, (स्वयं) प्रकाशते ॥ २८ ॥

भाषार्थः–जिस प्रकार दीपकको अपने प्रकाश करने के लिये दूसरे दीपककी इच्छा [आवश्यकता] नहीं होती है उसी प्रकार आत्माको स्वयं बोधरूप होने के कारण बोधरूप आत्माके बोधमें अन्य बोधकी अपेक्षा नहीं है क्योंकि आत्मा तो स्वयं प्रकाशित होता है ॥ २८ ॥

जो कदाचित यह शंका करो कि आत्मा तो आपही साक्षात्कारहै अत एव पुरुष बिनाही यत्न किये मुक्त हो जांयगे और श्रवण मनन आदि जो

मुक्तिके उपाय हैं वे सर्व निष्फल हो जांयगे तहां शंकाका समाधान करते हैं कि-

श्लोक-निषिध्य निखिलोपाधीन्नेति नेति वाक्यतः। विद्यादैक्यं महावाक्यैर्जीवात्मपरमात्मनोः॥२९॥

अन्वयः—नेति नेति इति; वाक्यतः, निखिलोपाधीन् निषिध्य, महावाक्यैः, जीवात्मपरमात्मनोः, ऐक्यम्; विद्यात् ॥ २६ ॥

भाषार्थः—नेति नेति इस वाक्य से सब उपाधियोंका निषेध करके "तत्वमसि" आदि महावाक्योंसे जीव और परमात्माकी एकताको जाने अर्थात् "स एष आदेशो नेति नेतीत्यतन्निरसनम्" इस व्यासजी के कथित सूत्रके अनुसार यह उपदेश है कि "नेति नेति" अर्थात् यह आत्मा नहीं है नहीं है इस प्रकार श्रुतियों के वचनों से आत्मा से जो भिन्नहै उसका त्याग करे अर्थात्, जड और

अनित्य समझे और इस प्रकार जब स्थूल सूक्ष्म और कार्य कारणरूप नामरूपात्मक जगतको अनित्य जान ले तिसके पीछे "तत्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म, प्रज्ञानं ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि" अर्थात् वह ब्रह्म तू है, यह जीवात्मा ब्रह्म है, प्रज्ञान ब्रह्म है, मैं ब्रह्म हूं इन महावाक्यों करके जीवात्मा और परमात्मा इन दोनों की एकता को जाने और उस जाननेहोको मुक्तिका कारण कहते हैं। और महावाक्यों से एकताका ज्ञान किस प्रकार होताहै उन तीन संबन्धों को कहते हैं कि सम्बन्ध तीन प्रकारके हैं सामानाधिकरण्य, विशेषण विशेष्यभाव और लक्ष्यलक्षणभाव इन तीनों में सामानाधिकरण्यसंबंध दो प्रकारका है एक मुख्य सामानाधिकरण्य और दूसरा बाधसामानाधिकरण्य मुख्य सामानाधिकरण्य संबन्ध उसे कहते हैं कि जहां एक वस्तुका एक वस्तुके साथ सर्वदा अभेद

हो जैसे सुवर्णका और सुवर्ण के बने हुए आभूषणों-का । और बाधसामानाधिकरण्य संबन्ध वहहै कि जहाँ एक वस्तुको एक वस्तुके साथ बाध करके संबन्ध हो जैसे सुवर्ण के डेलेका जब कोई कुँडल आदि आभूषण बनगया तबभी कुँडलादि भूषण के नाम और रूपको बाधकरके पूर्वोक्त सामान्य सुवर्णके साथ उसका अभेद है । अथवा वहां होता है कि जहां दो पदोंका परस्पर भेद हो किन्तु अर्थ एकही हो जैसे घट और कुंभ शब्द तो अलग २ हैं परन्तु अर्थ दोनों का एकही है अथवा जैसे सोऽयं देवदत्तः, अर्थात यह वह देवदत्त है (जिसको वाराणसी में देखा था) इस वाक्यमें 'सःअयंदेवदत्त" ये तीन पद हैं । उनमें से "सः" पद परोक्ष देश और कालका बोध कराता है "अयं" पद परोक्ष देश काल वृत्तिका बोध करता है और इस तरह इन दोनों पदोंका भिन्न २ अर्थ है, किन्तु

दोनों पदोंका संबन्ध एक देवदत्तमेंही है इसलिये बाधसामानाधिकरण्य संबन्ध हुआ । और ऐसेही "तत्वमसि" आदि महावाक्योंमें "तत्" पदका वाच्य अर्थ, परोक्ष आदि बिशेषणविशिष्ठ चेतन होता है और "त्वं" पदका वाच्य अर्थ अपरोक्ष आदि विशेषणसहित चेतन है और बिशेषणोंको त्यागकर इन दोनों पदोंका असि (है) इस पदमें सामानाधिकरण्य है । और दूसरा बिशेषणविशेष्य-भावसंबन्ध यह है कि जैसे "सोऽयं देवदत्तः" अर्थात् यह वही देवदत्त है यहां सः और अयं ये दो पद देवदत्तपदके बिशेषण हैं और देवदत्त विशे-ष्य है और ये दोनों पद अपने२ देश और कालरूप अर्थको त्यागकर देवदत्त के स्वरूपको जतलाते हैं और इसी प्रकार "तत्वमसि" आदि महावाक्यों में भी "तत्" पदका अर्थ तो अपरोक्षआदि विशेषण सहित है और "त्वं" पदका अर्थ अपरोक्षआदि

विशेषणसहित चेतन है और इन दोनों विशेषणोंको त्यागकर दोनों पदोंका असि (है) इस पदमें सामानाधिकरण्य होता है इसलिये यहां विशेषणविशेष्य भावसंबन्ध है। और तीसरा लक्ष्यलक्षणभाव संबन्ध है जैसे "सोऽयं देवदत्तः" यहां "सः अयम्" इन दोनों पदोंसे देशकाल आदि विशेषणोंको छोडकर देवदत्तमात्रही लक्षित होता है। और ऐसेही "तत्वमसि" आदि महावाक्योंमें भी "तत्" पदका अर्थ अद्वितीय अपरोक्षव्यापक चेतन है और "त्वं" पदका अर्थ सद्वितीय अपरोक्ष परिछिन्न चेतन है इन विरुद्ध धर्मोंको छोड़कर एक चेतन जो बिरुद्ध धर्मरहित लक्ष्य अर्थ है सो लक्षित होता है और इन पूर्वोक्त तीनों संबन्धों के द्वारा लक्षण से जीव और ब्रह्मकी एकता सिद्ध होती है इसलिये अब लक्षणका वर्णन करते हैं कि लक्षणा तीन प्रकारकी हैं जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्ल

क्षणा । जहल्लक्षणा किसे कहते हैं तहां कहते हैं कि जैसे "गंगायां घोषः" गंगा में अहीर रहता है यहां जलप्रवाहरूप गंगाका जो वाच्य कहिये मुख्य अर्थ है उसमें अहीरका रहना असंभव है क्योंकि गंगाके बीचमें पानीपर अहीर रह नहीं सक्ता इस लिये यहां प्रवाहरूप जो वाच्य अर्थ है उसको छोड़कर गंगापदकी तटमें लक्षणा कर ली अर्थात् गंगा जी के तटपर अहीर रहता है ऐसा मानो तो यहां गंगापदका सम्पूर्ण वाच्य अर्थ छूट गया इसलिये इसको जहल्लक्षणा कहते हैं। और "तत्वमसि" आदि महावाक्योंमें तत् त्वम् दोनों का चेतनरूप एक अर्थ है सो अर्थका त्याग न होनेसे जहल्लक्षणां हो नहीं सक्ती अब अजहल्लक्षणाका वर्णन करते हैं कि जैसे "अरुणो धावति" अर्थात् अरुण (लालरंग) दौड़ता है यहां लाल रंगमें दौडना संभव है इस लिये अरुण [लाल] पदकी लक्षणा

लाल घोड़ेमें है यहां अरुण पदकी अपने लाल अर्थको न त्यागकर घोड़ेरूप दूसरे पदार्थ में लक्षण हुई इसलिये यह अजहल्लक्षणा हुई। यह लक्षण भी "तत्वमसि" आदि महावाक्यों में नहीं हो सक्ती क्योंकि उनमें संपूर्ण वाच्य अर्थका ग्रहण नहीं है। अब जहदजहल्लक्षणाको कहते हैं कि जहाँ किंचित् अर्थका त्याग और किंचित् अर्थका ग्रहण हो वह जहदजहल्लक्षणा होती है और यही लक्षणा "तत्वमसि" आदि महावाक्योंमें इस प्रकार घटती है जैसे "सोऽयं देवदत्तः" यह (वही देवदत्त हैं) इस वाक्य में देश काल और पुष्ट कृश आदि विशेषणोंका त्याग है और पिंडमात्र देवदत्तका ग्रहण होता है इसलिये जहदजहल्लक्षणा होती है और ऐसेही "तत्वमसि" आदि महावाक्यों में भी समष्टि (सब मिला हुआ) व्यष्टि (जुदा) २स्थूल सूक्ष्म आदि विरुद्ध अंशको त्याग देनेसे व्यापक

अखंड चैतन्यमात्रका बोध होता है । और इसी लक्षणाको भावत्यागलक्षणाभी कहते हैं ॥ २९ ॥

कदाचित् यह कहो कि चेतन तो असंग है इस लिये उपधियोंको त्यागन करनेमेंभी कोई हानि नहीं है तहां कहते हैं–

श्लोक-आविद्यकं शरीरादि दृश्यं बुद्बुदवत्क्षरम् । एतद्विलक्षणं विन्द्यादहं ब्रह्मेति निर्म्मलम् ॥ ३० ॥

अन्वय–आविद्यिकम्, दृश्यम्, शरीरादि, बुद्बुदवत्, क्षरम्ः (अस्ति) एतद्विलक्षणम्, अहं ब्रह्म, इति निर्मलम् विन्द्यात् ॥ ३० ॥

भाषार्थः–अज्ञानसे कल्पित जो शरीर आदि जड़ पदार्थ दीखते हैं उनको पानीके बुलबुलेके समान नाशवान् समझना चाहिये और इनसे बिलक्षण अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूप और निर्मल कहिये उपाधिरूप मलोंसे रहित जो ब्रह्म है सोही मैं हूँ ऐसा जाने ॥ ३० ॥

अब महावाक्योंसे उत्पन्न हुई जीव और ब्रह्मकी एकताके माननेका प्रकार लिखते हैं—

श्लोक-देहान्यत्वान्नमे जन्मजराकार्श्यलयादयः। शब्दादिविषयैः सङ्गो निरिन्द्रियतया न च॥ ३१॥

अन्वयः-देहान्यत्वात्, निरिन्द्रियतया; च मे जन्मजराकार्श्यलयादयः; न, (सन्ति) शब्दादिविषयैः, संगः, (च) नः (अस्ति)।

भावार्थः—मैं देह कहिये स्थूल और सूक्ष्मरूपसे अलग हूँ इसलिये मुझको जन्म, वृद्धावस्था, दुर्बलता और मरण आदि नहीं होते (और आदिपद) जो दिया है उससे क्षुधा तृषा, देहके धर्म भी मुझे नहीं सताते हैं) और मैं इन्द्रियों से रहित हूं इस कारण शब्द आदि विषयों में भी मेरा कुछ संबन्ध नहीं है। सारांश यह है कि मैं

संगरहित निर्मलस्वभाव ब्रह्म हूँ इस प्रकार मनन करना चाहिये ॥ २१ ॥

अब आत्माके विषे मनके धर्मोंका निषेध करते हैं–

श्लोक-अमनस्त्वान्न मे दुःखरागद्वेषभ-
याद्यः । अप्राणो ह्यमनाः शुभ्र
इत्यादि श्रुतिशासनात् ॥ २२ ॥

अन्वयः–अप्राणः, हिः अमनाः, शुभ्रः, इत्यादि-श्रुतिशासनात्; अमनस्त्वात् मे; दुःखरागद्वेषभयादयः, न ॥ २२ ॥

भाषार्थः-मनसे भिन्न होनेके कारण मुझमें दुःख राग द्वेष भयादिक नहीं है और मैं प्राणोंसे भिन्न हूँ इसलिये क्षुधा तृषा आदि जो प्राणोंके धर्म हैं वे भी मुझमें नहीं हैं और ऐसाही श्रुतिमेंभी कहा है कि परमात्मा प्राण और मनसे भिन्न है और शुभ्र कहिये अविद्याके मलसे रहित है। तात्पर्य यह हुआ कि

परमात्मा केवल अखण्ड सच्चिदानन्दरूप विकार रहित शुद्धचैतन्यरूप है ॥ २२ ॥

अब इस बातका वर्णन करते हैं कि प्राण यदि परमात्मासे उत्पन्न होनेके कारण अनित्य है-

श्लोक-एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वे-
न्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापश्च
पृथ्वी विश्वस्य धारिणी ॥ २३ ॥

अन्वयः-प्राणः मनः सर्वेन्द्रियाणि, चः खम, वायुः ज्योतिः आप, विश्वस्यः धारिणी पृथ्वी च, एतस्कात् [ब्रह्म] जायते ॥ २३ ॥

भाषार्थ-प्राण मन, सब इन्द्रियां, आकाश, वायु अग्नि, जल और स्थावर जंगमरूप संसारके धारण करनेवाली पृथिवा ये सब प्रपंच अनादि अविद्याके द्वारा उसी ब्रह्मसे उत्पन्न होते हैं ॥ २३ ॥

श्लोक-निर्गुणो निष्क्रियो नित्यो निर्विक-
ल्पो निरंजनः निर्विकारो निरा

करो नित्यमुक्तोऽस्मि निर्मलः॥३४

अन्वयः-(अहम्], निर्गुणः निष्क्रियः नित्यः, निर्विकल्पः, निरञ्जनः, निर्विकारः, निराकारः, नित्यमुक्तः निर्मलः, अस्मि ॥ ३४ ॥

भाषार्थः—मैं निर्गुण हूँ अर्थात् माया और उसका कार्य जो बुद्धि-सत्वगुण राग इच्छा आदि इनसे भिन्न हूँ और देह और क्रियासे हीन हूँ और नित्य हूँ अर्थात् सर्वदा चैतन्यस्वरूप हूँ और निर्विकल्प हूं अर्थात् संकल्प विकल्प जो मन के धर्म हैं उनसे रहित हूं निरंजन हूँ अर्थात् मायाका कार्य जो संसाररूपी मल है उससे रहित हूं निर्विकार हूं अर्थात् माया करके मिथ्या कल्पित किया गया जो यह संसार है उसका अधिष्ठानरूप हूँ निराकार हूँ अर्थात् आकाश के समान स्वतंत्र और अवयव रहित हूँ और नित्यमुक्त हूँ अर्थात् अज्ञानसे कल्पना किये गये जो मोह आदि बन्धन तिनसे रहित हूँ और

निर्मल हूं अर्थात् मायारूपी मल भी मुझमें नहीं है इस प्रकार अपने रूपको जानना चाहिये ॥ ४ ॥

जो कदाचित् यह कहो कि आत्मा रूप तो जैसा कह आये हो वैसाही है किन्तु देहवान् प्रतीत होता है इस शंका को दूर करते हैं-

श्लोक-अहमाकाशवत्सर्वं बहिरन्तर्गतोऽच्युतः। सदा सर्वसमः शुद्धो निःसंगो निर्मलोऽचलः ॥ ३५ ॥

अन्वयः-अहम्, सदा, आकाशवत्, सर्वबहिरन्तर्गतः, अच्युतः सर्वसमः शुद्धः, निःसंगः, निर्मलः अचलः, [अस्मि] ॥ ३५ ॥

भाषार्थः-मैं सर्वदा आकाशके समान सब जड़ और दृश्य पदार्थों के भीतर व्याप्त हूँ और सब के भिन्न हूं किसीमें लिप्त नहीं हूं [कदाचित् कहोकि दृश्यपदार्थोंका तो नाश हो जाता है फिर आत्मा-

का नाश क्यों नहीं होता है तहाँ कहते हैं कि मैं अच्युत हूँ अर्थात् जब यह कल्पित संसार नष्ट हो जाता है तब भी मैं यथावस्थित रहता हूं क्योंकि मैं अधिष्ठानरूप हूँ। अच्छा तू अधिष्ठान रूप होने से विनाशरहित तो है परन्तु अंतःकरण में तो तेरी सत्ता और चेतनता दोनों प्रतीत होती हैं और घट आदि में केवल सत्ताही प्रतीत होती है चेतना नहीं इस कारण आत्मामें विषमता है क्योंकि आत्मा सब पदार्थोंमें तुल्य है और सतोगुणके कार्य होने से स्वच्छ अन्तःकरण आदिमें सत्ता और चेतना दोनों प्रतीत होती है इसमें इस आत्माका क्या अपराध है और मैं शुभ अर्थात् पुन्य पापसे रहित हूँ और असंगहूं अर्थात् सबके संबन्धसे भिन्न हूँ और निर्मल हूँ अर्थात् संशयादिरूपी मलोंसे रहित हूं और अचल हूं क्योंकि सच्चिदानन्द अपने धर्मों से चलायमान नहीं होता है ॥ ३५ ॥

जैसे कि "त्वंपदार्थ" जीवात्माका लक्ष्य स्वरूप वर्णन किया था उसी प्रकार तत्पदार्थ परमात्माका लक्ष्यस्वरूप वर्णन किया और अब उन दोनोंकी एकता सिद्ध करते हैं-

श्लोक-नित्यशुद्धं विमुक्तैकमखण्डान-
न्दमद्वयम्। सत्यं ज्ञानमनन्तं
यत्परंब्रह्माहमेव तत्॥ २६॥

अन्वयः—यत्, नित्यशुद्धविमुक्तैकम्, अखण्डानन्दम, अद्वयम्, सत्यम्, ज्ञानम्, अनन्तम्, परम्, ब्रह्म, तत्, अहम्, एव, (अस्मि)॥ २६॥

भाषार्थः—जो नित्य अर्थात् तीनों कालों में शुद्ध कहिये अविद्या आदि मलसे रहित और विमुक्त अर्थात् संसारसे विरक्त और एक कहिये सजातीय भेदशून्य और अखण्ड कहिये देशकालपरिच्छेदशून्य तथा आनन्दस्वरूप अद्वितीय कहिये विजातीय और स्वगत भेदशून्य जो सत्यज्ञान अनन्त स्वरूप

ब्रह्म है सो मैं ही हूँ । और श्रुतिमें भी यही कहा है कि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" ॥ ३६ ॥

अब बहुत कालपर्यन्त अभ्यास करनेसे जब ब्रह्म दृढ़ हो जाता है और आत्मा का ज्ञान हो जाता है तब उसका क्या फल होता है सो दिखाते हैं-

श्लोक—एवं निरन्तराभ्यस्ता ब्रह्मैवास्मीति वासना । हरत्यविद्या विक्षेपान् रोगानिव रसायनम् ॥ ३७ ॥

अन्वयः—[अहम्],ब्रह्म एव, अस्मि, एवम् निरन्तराभ्यस्ता, वासनाः रसायनम्ः रोगात्, इव, अविद्याविक्षेपान्, हरति ॥ ३७ ॥

भाषार्थः—मैं ब्रह्मही हूं इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करनेसे जो वासना उत्पन्न होती है वह चित्तके विक्षेपको अर्थात् आत्मा और ब्रह्मके भेद-ज्ञानको इस प्रकार नाश कर देती है जिस प्रकार

बहुत कालतक सेवन करनेसे रसायन औषध रोगों को नष्ट कर देती है ॥ ३७ ॥

अब ब्रह्म और आत्माकी एकता के साधन कहते हैं—

श्लोक-विविक्तदेशे आसीनो विरागो विजितेन्द्रियः। भावयेदेकमात्मानं तमनन्तमनन्यधीः॥ ३८ ॥

अन्वयः—[पुरुषः], विरागः, विजितेन्द्रियः, अनन्यधीः, विविक्तदेशे, आसीनः, [सन्], तम् अनन्तम्, एकम्, आत्मानम्, भावयेत ॥ ३८ ॥

भाषार्थः—विराग अर्थात् शब्दादि विषयोंकी इच्छासे रहित और जिससे विशेष करके इन्द्रियोंको वस में कर लियाहै और अनन्यधी अर्थात् ब्रह्म में निश्चलबुद्धिवाला अर्थात् जो यह मानेकि मैं ब्रह्म से भिन्न नहींहूं ऐसा पुरुष एकांतमें बैठाहुआ अद्वितीय अविनाशी आत्माका साधन करे तब ब्रह्म

और आत्माकी एकताका ज्ञान होता है ॥ २८ ॥

कदाचित् यह कहो कि दृश्यप्रपंच तो व्यवहार दशामें प्रत्यक्ष है फिर एकताकी साधना किस प्रकार से होगी तहाँ कहते हैं ।

श्लोक-आत्मन्येवाखिलं दृश्यंप्रविलाप्य धिया सुधीः । भावयेदेकमात्मानं निर्मलाकाशवत्सदा ॥ ३९ ॥

अन्वयः—सुधोः, अखिलम्, दृश्यम् धिया-आत्मनि, एव, प्रविलाप्य, सदा, निर्मलाकाशवत आत्मानम्, एकं, भावयेत् ॥ २६ ॥

भाषार्थ—सुधी अर्थात् जिसका अन्तः करण शुद्धहै ऐसा अधिकारी पुरुष संपूर्ण दृश्यप्रपंचको अपनी बुधिसे आत्मामेंही लीन करके अर्थात आत्मा में जो कथन मात्र विकार है उसे दूर करके पृथ्वी को जलमें लीन करे, जलको तेजमें लीन करे, तेज को वायुमें लीन करे, वायुको आकाशमें लीनकरे

और आकाशको मूलप्रकृति जो माया है उसमें लीन करे और मूलप्रकृति जोमायाको शुद्ध ब्रह्ममें लीनकरे इसके पीछे आत्माको इस प्रकार एकरस चिंतवनकरे कि जसे शरत्कालमें आकाश निर्मल होताहै ॥३९॥

विवेकी पुरुष सम्पूर्ण दृश्यप्रपंचको त्यागकर समाधिके विषे किस रूपसे स्थित होता है सो कहते हैं।

श्लोक-नामवर्णादिकं सर्वं विहाय परमार्थवित्। परिपूर्णचिदानन्दस्वरूपेणावतिष्ठते ॥ ४० ॥

अन्वयः—परमार्थवित् सर्वम् नामवर्णादिकम्, विहाय, परिपूर्णचिदानन्दस्वरूपेण अवतिष्ठते ॥४०

भाषार्थः—परमार्थ अर्थात् मोक्ष अथवा ब्रह्मरूपका जाननेवाला ज्ञानी पुरुष नानावर्णादिक कहिये दृश्यमान प्रपंच जो जाति मूर्ति आदि है, उनसबको त्यागकर परिपूर्ण व्यापक अधिष्ठान, अन्तर्या

भी, सच्चिदानंदस्वरूप होकर स्थित होता है अर्थात अपने आत्माको परिपूर्ण आदि स्वरूपही मानता है जैसाकि कृष्णचन्द्रने गीतामें वर्णन किया है कि "यथा दीपोनिवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता। योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥" अर्थात् जैसेवायुरहित स्थानमें दीपक,निश्चल स्थित् होता है वैसेही जिस योगीका चित्त वशमें है और जो योगमार्गमें लगा है वह निश्चल है ॥ ४० ॥

जो यह कहो कि समाधिमें जब पृथ्वी आदि दृश्य प्रपंच लय हो जांयगे तब ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेयके भेदरूप त्रिपुटी प्रपंचलक्षणक होनेपर पूर्वोक्त दीपककी उपमा कैसे घटेगी इस शंकाको आगेके श्लोक से दूर करते हैं। -

श्लोक-ज्ञातृज्ञानज्ञेयभेदःपरात्मनिन विद्यते। चिदानन्दैकरूपत्वादीप्यते स्वयमेव हि ॥ ४१ ॥

अन्वयः—चिदानन्दैकरूपत्वात्, परात्मनि ज्ञातृज्ञानज्ञेयभेदः, न, विद्यते, [परात्मा] हि, स्वयम्, एव, दीप्यते ॥ ४१ ॥

भाषार्थः—परमात्मा में ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय का भेद नहीं होता है क्योंकि वह परमात्मा तो चिदानंदस्वरूप होनेसे आपही प्रकाशित होता है अर्थात् उसके ज्ञानकेलिये किसीभी ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है। सारांश यह है कि सविकल्प समाधिमें ज्ञाता आदिका भेद प्रतीत होता है और निर्विकल्प समाधिमें नहीं होता ॥ ४१ ॥

अब उस प्रयत्न के प्रत्यक्ष फलका वर्णन करते हैं कि जो ब्रह्म और आत्माकी एकताके लिये किया जाता है—

श्लोक—एवमात्मारणौ ध्यानमथने सततं कृते। उदितावगतिर्ज्वाला सर्वाज्ञानेन्धनं दहेत् ॥ ४२ ॥

अन्वयः—एवम्, आत्मारणौ सततम् ध्यानमथने, कृते, अवगतिः, ज्वाला, उदिता, [सती] सर्वाज्ञानेन्धनम्, दहेत् ॥ ४२ ॥

भावार्थः—इस प्रकार आत्मारूपी अरणि के ध्यान रूपके साथ निरंतर मथन होने पर अर्थात् आपसमें रगड़ खानेसे प्रगट हुई ग्यानस्वफल ज्वाला सम्पूर्ण अज्ञान और जन्ममरणादि अज्ञान के कार्यरूपी इन्धनको भस्म कर देती है ॥ इसमें श्रुतिकाभी प्रमाण है कि "आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ॥ ज्ञाननिर्मथनाभ्यासाद्दहेत्कर्मस पंडितः" अर्थात् मनको नीचे की ओर ओंकारको ऊपरकी अरणि बनाकर ज्ञानद्वारा मन्थरासे जो भस्म करता है उसीको पण्डित करते हैं ॥ ४२ ॥

जो यह कहो कि पूर्वोक्त उत्पन्न हुई ज्वाला से अज्ञानरूपी इन्धन कैसे भस्म होताहै और आवरण रहित आत्माका कैसे प्रकाश होता है उसका उदाहरण आगेके श्लोकमें देते हैं—

श्लोक–अरुणेनेव बोधेन पूर्वसन्तमसे हते। तत आविर्भवेदात्मा स्वयमेवांशुमानिव ॥ ४२ ॥

अन्वय–बोधेन, अरुणेन, इव पूर्वसन्तमसे, हते, [सति] ततः, आत्मा, अंशुमान इव, स्वयम्, एव, आविर्भवेत् ॥ ४२ ॥

जिस तरह सूर्य अपने उदय होने से पहिले अपनी लाल किरणों के द्वारा अंधकार को नष्ट कर देती है फिर सूर्य उदय होता है इसी तरह ज्ञान की छटा के द्वारा अज्ञानांधकार को नाशकर के फिर आत्मा सूर्यके समान प्रकाशित होता है अर्थात निर्मल ब्रह्मज्ञानको प्राप्त हो जाता है॥ ऐसाही श्रीकृष्णचन्द्रजीने गीतामें कहा है कि "ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः। तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ।।" अर्थात जिनका अज्ञान ध्यान से दूर हो गया है उनको ब्रह्म का

ज्ञान सूर्य के समान प्रकाशित होता है ॥ ४३ ॥

शंका—आत्मा तो साक्षात् अपरोक्ष है अत एव नित्यप्राप्त है फिर जब अज्ञानका नाश हो जाता है तब ब्रह्मकी प्राप्ति होती है यह बात किस तरह सत्य हो सक्ती है क्योंकि जो वस्तु नित्य प्राप्त है वह परोक्ष और अप्राप्त नहीं हो सक्ती है। इसका समाधान यह है।

श्लोक-आत्मा तु सततं प्राप्तोऽप्यप्राप्य
वदविद्यया। तन्नाशे प्राप्तवद्भाति
स्वकण्ठाभरणं यथा ॥ ४४ ॥

अन्वयः—आत्मा, सततम्, प्राप्तः, अपितु अविद्यया, अप्राप्यवत्, [भाति] तन्नाशे, यथा, स्वकण्ठाभरणम्, [तथा], प्राप्तवत्, भाति ॥ ५५ ॥

भाषार्थः—आत्मा ज्ञानदृष्टिसे तो निरंतर प्राप्त है परन्तु वह अविद्या अर्थात् अज्ञान के द्वारा अप्राप्तसा दीखता है और अविद्याके नष्ट होनेपर

ग्राहके समान इस प्रकार प्रतीत होता है जैसे कोई मनुष्य किसी विशेष कारण से अपने गले में पड़े हुए हारको भूलकर अप्राप्तवत् कहता है फिर विस्मृति का नाश होनेपर उस वस्तुको पुनःप्राप्त करने लगता है ॥ ४४ ॥

शंका—जिसका अपरोक्ष साक्षात्कार है वह ब्रह्म ही नित्यप्राप्त है और जीवात्मा नित्यप्राप्त नहीं हो सक्ता इसका समाधान यह है।

श्लोक—स्थाणौ पुरुषवद्भ्रान्त्याकृता
ब्रह्मणि जीवता। जीवस्य तात्त्विके
रूपे तस्मिन् दृष्टे निवर्तते ॥ ४५ ॥

अन्वयः—स्थाणौ, पुरुषवत्, ब्रह्मणि, जीवता, भ्रान्त्या, कृता, (अस्ति), जीवस्य, तस्मिन्, तात्त्विके, रूपे, दृष्टे, निवर्तते ॥ ४५ ॥

भावार्थ-जैसे अंधेरी रातमें कोई मनुष्य स्थाणु अर्थात् वृक्ष के ठूँठमें पुरुषका ज्ञान करता है फिर

विशेष रूप से निरीक्षण करने पर पुरुष न जानकर उसे स्थाणु ही कहने लगता है वैसेही ब्रह्म में जीव भाव प्रतीत होता है परन्तु "तत्वमसि" आदि महावाक्यों के द्वारा जीवका जो तत्विकरूप अर्थात् सत्यरूप है उसके जाननेसे जीवभाव निवृत हो जाता है ॥ ४८ ॥

शंका--ज्ञानी पुरुषों को भी 'तेरा' 'मेरा' लगा रहता है फिर यह बात क्योंकर निश्चय हो कि ज्ञान होने से संसार के पदार्थोंसे निवृत्ति होती है

इसका समाधान यह है।

श्लोक-तत्वस्वरूपानुभवादुत्पन्नं ज्ञानमंजसा। अहं ममेति चाज्ञानं बाधते दिग्भ्रमादिवत् ॥४६ ॥

अन्वयः--तत्वस्वरूपानु भवात्ः उत्पन्नम्, ज्ञानम् अञ्जसा दिग्भ्रमादिवत्, अहम्, मम, इति, अज्ञानम् बाधते, च ॥ ४६ ॥

भाषार्थः-तत्वस्वरूपके अर्थात् तत्वमसि आदि महावाक्यों के द्वारा जीव और ब्रह्मकी एकता के अनुभव से उत्पन्न हुआ जो ज्ञान उससे शीघ्रही दिशाओं के भ्रमके समान अर्थात् जैसे सूर्यके उदय होतेही प्रत्येक दिशा यथायोग्य प्रतीत होती हैं उसी प्रकार "मैं हूँ" "मेरा है" यह जो अज्ञान है सो तभीतक बाधा करता है कि जबतक ज्ञान नहीं होता और ज्ञानके होते ही अज्ञानसबन्धी जितने विषय हैं उनसे अपने आप निवृत्ति हो जायगी ॥ ५६ ॥

अब ज्ञानी पुरुषोंकी दृष्टिका वर्णन करते हैं-

श्लोक-सम्यग्विज्ञानवान् योगी स्वात्मन्येवाखिलं स्थितम्। एकं च सर्वमात्मानमीक्षते ज्ञानचक्षु ॥ ४७ ॥

अन्वयः-सम्यक् विज्ञानवान्, योगी, ज्ञानव-

चुधा, अखिलम् स्वात्मनि, एव, स्थितम्, सर्वम्, आत्मानम, च, एकम्, ईक्षते ॥ ४७ ॥

भाषार्थः—जिसको संशय विपर्य रहित साक्षात् दृढ ज्ञान हो उसे योगी कहते हैं और वह योगी अपने ज्ञानरूपी नेत्रोंसे संपूर्ण विश्वको अपनी आत्मामें स्थित और सबको एक आत्मारूप देखता है क्योंकि जितना दृश्य प्रपञ्च आत्मा से भिन्न है वह खरगोशके साग और आकाशपुष्प के समान मिथ्या कल्पित है ॥ ४७ ॥

शंका—संसार तो प्रत्यक्ष दीखता है और इसे ज्ञानी पुरुष आत्मा से भिन्न किस प्रकार देखता है इसका समाधान यह है ।

श्लोक—आत्मैवेदं जगत्सर्वमात्मनोऽन्यन्न
विद्यते । मृदो यद्वद्घटादीनि
स्वात्मानं सर्वमीक्षते ॥ ४८ ॥

अन्वयः—यद्वत्. घटादीनि. मृद. (तथा)

इदम्, सर्वम्, जगत, आत्मा, एव, आत्मनः, अन्यत्, न, विद्यते, (अतः, ज्ञानी), सर्वम्, स्वात्मानं ईक्षते ॥ ४८ ॥

भाषार्थः—जैसे उपादानकारण मृत्तिकासे बने हुए घटशरावादि मृत्तिकासे भिन्न नहीं हैं वैसेही यह सम्पूर्ण जगत् उपादानकारण आत्मा से भिन्न नहीं है इसलिये ज्ञानी पुरुष जगत् को आत्मस्वरूप ही देखता है । सारांश यह है कि उपादेय अर्थात् घटादि वा जगद्रूपकार्य सो उपादान कहिये कारणरूप जो मृत्तिका और आत्मा इनसे भिन्नसा प्रतीत होता है किन्तु यथार्थमें भिन्न नहीं यह भिन्न दीखना केवल अज्ञानसे है ॥ ४८ ॥

अब जीवन्मुक्तिका वर्णन करते हैं—

श्लोक—जीवन्मुक्तिस्तु तद्विद्वान् पूर्वोपा-
धिगुणांस्त्यजेत् सच्चिदानन्दरू-
पत्वाद्भवेद्भ्रमर कीटवत् ॥ ४९ ॥

अन्वयः—(या), जीवन्मुक्तिः तद्विद्वान्, तु पूर्वोपाधिगुणान्, त्यजेत्, (तदा) सच्चिदानन्दरूपत्वात् भ्रमरकटिवत्, भवेत् ॥ ४९ ॥

भाषार्थः—जीवन्मुक्त पुरुष तौ प्रथम जो जीव और ब्रह्मकी एकता कही है उसे जानकर तत्वज्ञानसे पूर्वकथित जो उपाधियोंके गुण हैं उनको श्रवणादि द्वारा माया के धर्म जानकर ज्ञानसे त्याग देता है फिर जिस प्रकार भृंगी नाम कीडा भ्रमरके भयसे भ्रमर हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी भी उपाधिरहित ब्रह्ममें तन्मय हो सच्चिदानन्द स्वरूप हो जाता है ॥ ४९ ॥

निम्न लिखित श्लोक रामचन्द्र के पक्षमें लगता है इस लिये जीवन्मुक्त पुरुषको रामचन्द्रावताररूपसे वर्णन करते हैं—

श्लोक—तीर्त्वा मोहार्णवं हत्वा रागद्वेषा

दिराक्षसान्। योगी शान्तसमायु
क्तो ह्यात्मारामो विराजते ॥ ५० ॥

अन्वयः—हि, आत्मारामः, योगी, मोहार्णवम्, तीर्त्वा, रागद्वेषादिराक्षसान्, हत्वा, शान्त समायुक्तः विराजते ॥ ५० ॥

भाषार्थः—भगवान् श्रीराम समुद्रको लांघकर संपूर्ण राक्षसों का विनाश कर के सुहृद और अमात्य वर्गोंसे युक्त हो विराजमान हुए थे वैसे ही योगी भी मोहरूपी समुद्र को पार करके राक्षसरूपी संपूर्ण राग द्वेषादि का विनाश करके ज्ञान वैराग्यादि सुहृद और अमात्य वर्गसे समायुक्त आत्माराम होकर विराजता है ॥ ५२ ॥

श्लोक-बाह्यानित्यसुखासक्तिं हित्वाऽऽ-
त्मसुखनिर्वृतः। घटस्थदीपवत्स्व-
च्छः स्वान्तरेव प्रकाशते ॥ ५१ ॥

अन्वयः—(जीवन्मुक्तपुरुषः), बाह्यानित्यसुखा-

सक्तिम्, हित्वा, आत्मसुखनिर्वृतः स्वच्छः, (सन्) घटस्थदीपवत्, स्वांतः, एव, प्रकाशते॥ ५१ ॥

भाषार्थः—नेत्र आदि बाहरकी इन्द्रियोंका विषयोंके साथ सम्बन्ध होनेसे उत्पन्न जो विषयानन्दरूपी अनित्य सुख, उसकी प्रीतिको त्यागकर और आत्माके सुखसे सुखी होकर, स्वच्छरूपसे, ब्रह्मरूप अपने अंतः करण में घटके भीतर दीपकके समान प्रकाशमान होताहै । और गीतामें भी यही लिखा है कि "प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् । आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ १ ॥" अर्थात् हे अर्जुन ? जब अपने मनकी सम्पूर्ण कामनाओंको त्याग देताहै तब अपने आत्माहीमें संतुष्ट होकर स्थिरबुद्धि कहलाता है ॥५१॥

श्लोक-उपाधिस्थोऽपि तद्धर्मैर्न लिप्तो व्योमवन्मुनिः । सर्वविन्मूढवत्तिष्ठेदसक्तो वायुवच्चरेत् ॥५२॥

अन्वयः—उपाधिस्थ, अपि, व्योमवत, तद्धर्मैः, न, लिप्तः, मुनिः, सर्ववित्, (अपि) मूढवत्, तिष्ठेत, वायुवत्, असक्तः, चरेत् ॥ ५२ ॥

भाषार्थः—मुनि कहिये वेदान्त शास्त्रका मनन करनेवाला तत्वज्ञानी उपाधियोंमें स्थित होकर भी उपाधियोंके सुख आदि धर्मोंसे ऐसे लिप्त नहीं होता है है कि जैसे आकाश धूलसे लिप्त नहीं है और यद्यपि सर्वज्ञभी हैं तथापि मूढके समान ठहरे और प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए विषयोंमें न लगकर पवनके समान विचरे अर्थात् जैसे पवन सुगन्धित पदार्थोंको छोड़कर विचरता है उसी प्रकार तत्वज्ञानी भी विषयोंको छोड़ अपने स्वरूप से विचरे ॥ ५२ ॥

अब ज्ञानी की विदेह कैवल्यमुक्तिका वर्णन करते हैं—

श्लो—उपाधिविलयाद्विष्णौ निर्विशेषं
विशेन्मुनिः। जले जलं वियद्व्यो-
म्नि तेजस्तेजसि वा यथा ॥ ५३ ॥

अन्वयः-यथा, जले, जलम् व्योम्नि, वियत् वा, तेजसि, तेजः, (तथा),मुनिः, उपाधिविलयात, विष्णौ, निर्विशेषम्, विशेत् ५३ ॥

भाषार्थः—जैसे जल में जल अर्थात् जैसे नदी अपना रूप छोड़ कर समुद्ररूप हो जाती है और आकाशमें आकाश अर्थात् जैसे घटाकाश अपनी उपाधि छोड़कर आकाश में मिल जाताहै और तेजमें तेज अर्थात् जैसे दीपक का तेज अपनी उपाधि छोड अग्निमें मिल जाता है उसी प्रकार मुनि अर्थात् वेदान्तका मनन करनेवाला ज्ञानी पुरुष देह आदि उपाधियोंके नष्ट होनेसे व्यापकरूप परब्रह्ममें सम्पूर्ण रीतीतिसे लय हो जाता है ॥ ५३ ॥

अब उस परब्रह्मका निरूपण करते हैं कि जिसकी विदेहमुक्तिमें प्राप्ति होती है—

**श्लोक-यल्लाभान्नापरो लाभो यत्सुखान्ना
परं सुखम्। यज्ज्ञानान्नापरं ज्ञानं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥ ५४॥**

अन्वयः-यल्लाभात्, अपरः, लाभः, न यत्सुखात्, अपरम्, सुखम्, न' यज्ज्ञानात् अपरम् ज्ञानम्, न, तत्, ब्रह्म, इति, अवधारयेत् ॥ ५४ ॥

भाषार्थः-जिस पर ब्रह्मके परे लाभ से दूसरा लाभ नहीं क्योंकि ब्रह्मके लाभसे सम्पूर्ण जगत् का लाभ अन्तर्गत है और जिसके सुखसे दूसरा सुख नहींहै क्योंकि उसका सुख सर्वोत्तम है और संसारमात्र के सुख उसमें अन्तर्गत हैं। और जिसके ज्ञानसे कोई दूसरा ज्ञान नहीं क्योंकि जो ब्रह्मज्ञान मोक्षका कारण है उससे दूसरा कोई श्रेष्ठ हो नहीं सक्ता अतएव ऐसा जो है उसीको ज्ञानी पुरुष ब्रह्मरूप निश्चयकरे॥५४॥

श्लोक-यद्दृष्ट्वा न परं दृश्यं यद्भूत्वा न
पुनर्भवः ? यज्ज्ञात्वा न परं ज्ञानं
तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥५५॥

अन्वयः- यत् दृष्टवा, परम्, दृश्यम् न, यत्

भूत्वा, पुनर्भवः न, यत् ज्ञात्वा, परम् ज्ञानम् न, तत, ब्रह्म इति, अवधारयेत् ॥ ५५ ॥

भाषार्थः- । जिस परब्रह्म के देखने पर अर्थात् साक्षात्कार होने पर कोई दूसरा पदार्थ देखने के योग्य नहीं रहता है (ब्रह्म के दीखने पर सब जगत दीखताहै साक्षात्कार हो जाताहै) और जिस ब्रह्म रूप होने से फिर दूसरा जन्म संसार में नहीं होता है। जैसा श्रीकृष्ण ने गीता में लिखा है कि यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम" अर्थात् जिस ब्रह्म में जाकर फिर निवृत्ति नहीं होतीहै वही मेरा परम धाम है। और जिसको जानकर कोई दूसरा पदार्थ जानने की आवश्यकता नहीं रहतीहै (क्योंकि कार्य की सत्ता कारण से भिन्न नहीं रहती है कारण के ज्ञान से ही समस्त कार्य का ज्ञान हो जाता है) उसी को ब्रह्म जानना चाहिये ॥ ५५ ॥

शंका-पूर्वोक्त प्रमाणों से यह निश्चित किया कि ज्ञानी विदेह कैवल्य अवस्था में स्थित होकर पर-

ब्रह्म को प्राप्त होता है तो उससे अ। ऐसी शंका होती हैं कि वह ब्रह्म परिछिन्न कहिये एक देश में रहनेवाला अथवा अपरिछिन्न कहिये सर्वव्यापक है। जो यह कहो कि परिछिन्न है तो नाशमान् होने से परम पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता है और जो अपरिच्छिन्न कहें तो सर्व व्यापक होने से उस की प्राप्ति नहीं होसक्ती इसलिये इसका समाधानकरतेहैं

तिर्यगूर्ध्वमधःपूर्णंसच्चिदानन्दमद्वयम्
अनन्तंनित्यमेकंयत्तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत्॥

अन्वयः—यत् तिर्यक् ऊर्ध्वम् अधः पूर्णम् सच्चिदानन्दम्, अद्वयम्, अनन्तम्, नित्यम्, एकम्, यत् ब्रह्म, इति, अवधारयेत् ॥५६॥

भाषार्थः जो तिर्यक् अर्थात् पूर्व आदि चारों दिशावों में और ऊपर नीचे सर्वत्र सच्चिदानन्द आनन्द द्वारा परिपूर्ण अथवा अद्वितीय अर्थात् उसके सिवाय और कोई पदार्थ नहीं एवं जो अनन्त कहिये देशकालवस्तु के परिच्छेद से रहित है

और नित्य अर्थात् सत्यहै स्वजातीय विजातीय वस्तु बर्जित है उसी को ब्रह्म कहते हैं ॥ ५६ ॥

श्लोक-अतद्व्यावृत्तिरूपेण वेदान्तैर्लक्ष्यतेऽव्ययम् । अखण्डानन्दमेकं यत्तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥ ५७ ॥

अन्वयः—यत्, वेदान्तैः, अतद्व्यावृत्तिरूपेण, अव्ययम्, अखण्डानन्दम्, एकम्, लक्ष्यते, तत् ब्रह्म, इति, अवधारयेत् ॥५७॥

भाषार्थ—जो वेदान्त वाक्य द्वारा अतद्व्यावृत्ति अर्थात् यह नहीं है, यह नहीं है इस तरह सम्पूर्ण प्रपंच पदार्थ का निषेध करके जो स्वयं निषिद्ध नहीं होताहै और उसी रूपमें लक्षित होता है और जिससे भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं है और जो निरवच्छिन्न आनन्द स्वरूप तथा एक अर्थात् स्वजातीय भेद से शून्य है उसी को ब्रह्म कहकर अवधारण करे ॥५७॥

शंका—शास्त्रमें ब्रह्मा आदिको भी तो अखण्ड आनन्दस्वरूप कहाहै फिर यहाँ केवल ब्रह्मको ही क्यों कहा इस शंका का समाधान यह है ।

श्लोक-अखण्डानन्दरूपस्य तस्यानन्द
लवाश्रिताः । ब्रह्माद्यास्तारतम्येन
भवन्त्यानन्दिनोऽखिलाः ॥ ५८ ॥

अन्वय—तस्य, अखण्डानन्दरूपस्य, आनन्द-लवाश्रिताः, अखिलाः, ब्रह्माद्याः, तारतम्येन, आनंदिनः, भवन्ति ॥५८॥

भाषार्थः—उस अखण्डानन्दस्वरूप परब्रह्म के आनन्दका जो लेश है उसका आश्रय लेकर सम्पूर्ण ब्रह्मादिक देवता अपनी अपनी उपाधिका तारतम्य करके अर्थात् अपने २ पुण्य के अनुसार न्यून और अधिक आनन्दयुक्त होते हैं अत एव ब्रह्मादिकों को जो आनंद है सो सब ब्रह्मानन्दके ही अंतर्गत है और ज्ञानी पुरुष विदेह अवस्था में स्थित होकर उसी को पाते हैं ॥ ५८ ॥

शंका-कदाचित् यह कहो कि वह परब्रह्म जिसके आनन्दके लेश में ब्रह्मा आदि सम्पूर्ण देवता आनंदित रहते हैं सो कहाँ रहता है इसका समाधान करते हैं--

श्लोक-तद्युक्तमखिलं वस्तु व्यवहारस्तदन्वितः । तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म क्षीरे सर्पिरिवाखिले ॥ ५६ ॥

अन्वयः-अखिले, क्षीरे, सर्पिः, इव, अखिलम्, वस्तु, तद्युक्तम्, व्यवहारः तदन्वितः तस्मात, ब्रह्म सर्वगतम् (अस्ति) ॥५६॥

भाषार्थः—जैसे दूध के सर्वांश में घृत अभेदरूप से परिव्याप्त रहताहै वैसेही ब्रह्मसे घटपटादि समस्त वस्तु और वचन दान गमनादि संपूर्ण व्यवहार अन्वित होतेहैं इसलिये वह ब्रह्म प्रत्येक पदार्थ में अभेदरूपसे व्याप्तहै और ऐसाही श्रीकृष्ण ने गीता में कहाहै "सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।

अर्थात् वह ब्रह्म सब इन्द्रियों के गुणों का प्रकाशक और सम्पूर्ण इन्द्रियों से रहितहै। अत एव ब्रह्म सर्वव्यापक सिद्धहै ॥५६॥

शंका- परमात्मा तो सब प्रपञ्च में अनुगत है फिर उसको प्रपंचके धर्मोंका स्पर्श क्यों नहीं होता है तहाँ कहते हैं-

श्लोक-अनण्वस्थूलमह्रस्वमदीर्घमजम-
व्ययम् । अरूपगुणवर्णाख्यं तद्-
ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥६०॥

अन्वयः- [यत्], अनणु, अस्थूलम्, अह्रस्वम्, अदीर्घम्, अजम्, अव्ययम् अरूपगुणवर्णाख्यम् तत्, ब्रह्म इति, अवधारयेत् ॥६०॥

भाषार्थः-जो वस्तु न स्थूल है न सूक्ष्म है, न ह्रस्व है न दीर्घ है, जो जन्य भी नहीं है अर्थात् किसी दूसरे द्वारा उत्पन्न नहीं होती है और न विनाशशील है तथा रूप गुण और ब्राह्मणादि

वर्ण के नामसे भी रहित उसे ब्रह्मजाने ॥६०॥

श्लोक-यद्भासा भासतेऽर्कादिभास्यैर्यत्तु न भास्यते । येन सर्वमिदं भाति तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥६१॥

अन्वयः-यद्भासा अर्कादि; भासते, भास्यैः, (सूर्यादिभिः) तु, यत् न भास्यते, येन, इदम्, सर्वम्, [जगत्], भाति, तत् ब्रह्म, इति, अवधारयेत्॥२१॥

भाषार्थः-जिसके तेज के प्रभाव से सूर्य चन्द्र आदि ज्योतिः पूर्ण प्रकाशमान होते हैं और जो अपने प्रकाश से प्रकाशित हुए सूर्यादि से प्रकाशित नहीं होता है और जिस करके यह सब जगत् प्रकाशित हो रहाहै वह परब्रह्महै ऐसा निश्चय करना चाहिये ॥६१॥

श्लोक-स्वयमन्तर्बहिर्व्याप्य भासयन्नखिलं जगत् । ब्रह्म प्रकाशते वह्निप्रतप्तायसपिण्डवत् ॥६२॥

अन्वयः-ब्रह्म, वह्निप्रतप्तायसपिण्डवत्, अन्तर्बहिः, व्याप्य, अखिलम् जगत्, भासयन्, स्वयम् प्रकाशते ॥६२॥

भाषार्थः-जैसे अग्नि तप्त लोहेके गोले के भीतर और बाहर व्याप्त होकर उसको भी प्रकाशित करताहै और आप भी प्रकाशित होताहै इसी तरह ब्रह्मभी सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता हुआ स्वयं कहिये आपभी प्रकाशित होताहै । जैसे लोहे के गोले के भीतर बाहर अग्नि व्याप्त है उसी प्रकार ब्रह्म जगत् में व्याप्त है कोई स्थान उससे रहित नहीं है ॥ ६२ ॥

श्लोक–जगद्विलक्षणं ब्रह्म ब्रह्मणोऽन्यन्न किञ्चन । ब्रह्मान्यभाति चेन्मिथ्यायथा मरुमरीचिका ॥६३॥

अन्वय-ब्रह्म, जगद्विलक्षणम्; ब्रह्मणः अन्यत किञ्चन, न, चेत्, ब्रह्मान्यत्, भाति, [तर्हि, मरुमरीचिका, यथा, मिथ्या ॥६३॥

भाषार्थः-ब्रह्म जगतसे विलक्षण है और ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है और जो ब्रह्मसे भिन्न प्रतीत होता है जैसे घटपटादि पदार्थ सो मृगतृष्णा के समान मिथ्या है, सारांश यह है कि जड मिथ्या, दुःखरूप जगत्से सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म अलग हैं अतएव ब्रह्माही सत्य है और सब मिथ्या है ॥६३॥

श्लोक-दृश्यते श्रूयते यद्यद्ब्रह्मणोऽन्यत्र तद्भवेत्। तत्वज्ञानाच्च तद्ब्रह्मसच्चिदानन्दमद्वयम् ॥ ६४ ॥

अन्वयः—यत्, दृश्यते, यत, (च), तत् ब्रह्म सच्चिदानन्दम्, अद्वयम् (प्रतीयते) ॥ ६४ ॥

भाषार्थः-जो कुछ देखनेमें आता है और जो कुछ सुननेमें आता है इत्यादि सो ब्रह्म से अन्य कुछ नहीं अर्थात् संपूर्ण ब्रह्म ही है इसका कारण यह है कि ब्रह्म तत्वज्ञानसे हो सच्चिदानन्द और अद्वैत रूपमें प्रकाशित होता है ॥ ६४ ॥

शंका—जो सच्चिदानंदस्वरूप ब्रह्म सर्व व्यापक है तो सर्वत्र क्यों नहीं दीखता है।

श्लोक-सर्वगं सच्चिदात्मानंज्ञानचक्षुर्निरीक्षिते । अज्ञानचक्षुर्नेक्षेत भास्वन्तं भानुमन्धवत् ॥ ६५ ॥

अन्वयः—ज्ञानचक्षुः, सर्वगम् सच्चिदात्मानम्; निरीक्षते, (किन्तु) अज्ञानचक्षुः, भानुम्, अन्धवत् भास्वन्तम्, (आत्मानं), न, ईक्षेत ॥ ६२ ॥

भाषार्थः-जिन पुरुषोंके ज्ञानरूपी चक्षु हैं उनको सर्वव्यापी सच्चिदानन्दरूप दीखता है और जिस पुरुषके अज्ञानरूपी चक्षु हैं अर्थात् जो अज्ञानी हैं वह उस प्रकाशमान आत्माको ऐसे नहीं देख सक्ते कि जैसे अन्धा पुरुष सूर्यको नहीं देख सक्ता है ६५

जो यह शंका करो कि जिनके ज्ञानरूपी नेत्र हैं ऐसे पुरुषोंको विवेकके कारण यद्यपि देहादि

इन्द्रियोंमें अभ्यासरूप मल दूर होजाते हैं तथापि पूर्वजन्मके अभ्याससे संसारकी वासनाके वशमें होकर "अहं मनुष्यः" [मैं मनुष्य हूँ] ऐसा देह-रूपी बंधन प्रतीत होता है तो फिर आत्मस्वरूप में स्थित होकर मुक्ति किस प्रकार हो सक्ती है। इसका समाधान करते हैं

श्लोक-श्रवणादिभिरुद्दीप्तो ज्ञाना ग्निपरितापितः। जीवः सर्वमलान्मुक्तः स्वर्णवद् द्योतते स्वयम्॥ ६६॥

अन्वयः-श्रवणादिभिः, उद्दीप्तः, ज्ञानाग्निपरि-तापितः, सर्वमलात्, मुक्तः, जीवः, स्वयम्, स्वर्ण-वत् द्योतते॥ ६६॥

भाषार्थ—श्रवणादि अर्थात् श्रवण मनन निदि ध्यासन इनसे उत्पन्न हुई ऐसी ज्ञानरूपी अग्निसे परितापित कहिये मुक्त जो जीव सो सम्पूर्ण मलसे छूटकर अग्नि से तपे हुए सुवर्णके समान स्वयं प्रका-

शित होता है और प्रकाशमान होनेपर उसको "मेरा है" या 'मैं हूं' ऐसा अभिमान नहीं करता है ॥ ६६ ॥

जो यह कहो कि जो आत्मा शुद्ध हो जाता है उसका कैसा रूप होता है और वह कहां उदय होता है और किसे प्रकाशित करता है तहाँ कहते हैं कि

श्लोक-हृदाकाशोदितो ह्यात्मा बोधभानु स्तमोपनुत् । सर्वव्यापी सर्वधारी भाति सर्वं प्रकाशते ॥ ६७ ॥

अन्वयः-हृदाकाशोदितः बोधभानुः, आत्मा, तमोऽपनुत् [भवति], हि, [आत्मा] सर्वव्यापी, सर्वधारी, भाति, [च] सर्वम्, प्रकाशते ॥ ६७ ॥

भावार्थः-इस प्रकार जीव और आत्माके ज्ञानसे निर्मल बोधरूपी सूर्य आत्मा हृदयरूपी आकाशमें उदय होकर [अंतःकरणके मलरूपी] अँधकारको नाश करता है और सबको प्रकाशित करता हुआ

स्वयं प्रकाशमान होता है [अब जो बीचमें यह शंका करो कि हृदयरूपी आकाश तो परिच्छिन्न है और जब वहां आत्माका उदय होगा तो आत्मा उसके संसर्गमें परिच्छिन्न अर्थात् नाशवान् हो जायगा उसका यह समाधान है कि आत्मा सर्वव्यापी अर्थात् सब जगतमें व्यापक है और सर्वधारी कहिये जगत्का जो अज्ञान कार्य है; उस का अधिष्ठानरूप है और सबको प्रकाशित करता है और आप प्रकाशमान है। सारांश यह है कि व्यापकरूप आत्माका भ्रमरूप हृदयाकाश कदापि नाशक नहीं हो सक्ता है ॥ ६७ ॥

अब आत्मातत्त्वज्ञानको तीर्थरूपसे वर्णन करते हैं क्योंकि जो फल संपूर्ण तीर्थ और देवताओं की सेवाका है उसमें अधिक फल आत्मज्ञानरूपी तीर्थका है क्योंकि आत्माकी सेवासे फिर किसीकी सेवाकी आकांक्षा नहीं रहती है। कदाचित् यह

कहो कि आत्मज्ञानी भी तो अपने स्वाभाविक पाप दूर करनेको काशी आदि तीर्थोंमें जाते हैं और प्रथम ६६ वें श्लोकमें कह आये हो कि ज्ञानी पुरुष सुवर्णके समान प्रकाशमान और सम्पूर्ण मलसे रहित है सो कैसे हो सक्ता है तहाँ शंका दूर करते हैं सुनो—

श्लोक-दिग्देशकालाद्यनपेक्षि सर्वगं
शीतादिहृन्नित्यसुखं निरंजनम् ।
यःस्वात्मतीर्थं भजते विनिष्क्रियः
स सर्ववित्सर्वगतोऽमृतो भवेत् ॥६८॥

अन्वयः—यः, विनिष्क्रियः, दिग्देशकालाद्यनपेक्षि सर्वगम्, शीतादिहृत्, नित्यसुखम्, निरंजनम् स्वात्मतीर्थम् भजते, सः, सर्ववित; सर्वगतः; अमृतः, भवेत् ॥ ६८ ॥

भाषार्थः—आत्मज्ञानी पुरुष एकाग्र चित्त होकर पूर्व आदि दिशा और कुरु आदि देश और भूत

भविष्यत् वर्तमान काल इन सबकी अपेक्षासे रहित सर्वव्यापकरूप, और शीत और उष्ण इन दोनोंके नाशक और नित्यसुखस्वरूप, और निरंजन अर्थात् मायाके कार्यगतरूप मलसे रहित, ऐसे आत्मतीर्थका सब प्रकारकी क्रियाओंको छोड़ सेवन करता है वह सर्वव्यापक और सर्वज्ञाता होकर अमृतरूप अर्थात् ब्रह्मरूप हो जाता है अतएव मुमुक्षु पुरुषोंको आत्मतीर्थ अवश्य सेवन करना चाहिये और ऐसाही महाभारतमें लिखा है कि-

आत्मानदी संयमपुण्यतीर्था।
सत्योदकाशीलतटा दयोर्मिः॥
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र।
न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा॥ १॥

अर्थात् हे युधिष्ठिर! इन्द्रियोंको रोकनाही जिसका पुण्यतीर्थ हैं, सत्यही जिसका जय है, शील जिसका तट है और दयाही जिसमेंतरंगोंकी माला

है ऐसी आत्मरूपी नदीमें स्नान करे क्योंकि केवल जलसेही भीतर की आत्मा शुद्ध नहीं होती है ॥१॥

और भी कहा है कि—

स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले दत्ता च सर्वावनिर्य-
ज्ञानां च कृतं सहस्र मखिला देवाश्च संपूजिताः ।
संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योऽप्यसौ
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात् ॥

अर्थात् जिस पुरुषका ब्रह्मके विचारमें क्षणभर भी चित्त स्थिरताको प्राप्त हो गया तो जान लो उसी मनुष्य ने सम्पूर्ण तीर्थों के जलोंमें स्नान किया है उसीने सम्पूर्ण पृथ्वी का दान किया है उसनेही सहस्रोंयज्ञ किये हैं सम्पूर्ण देवताओं का पूजन किया है उसीने अपने पित्रोंको संसारसे पार किया है और वही त्रैलोक्यमें पूजनीय है ॥८८॥

12077

॥ इति ॥

महेश प्रसाद, द्वारा-सत्यनाम प्रेस, मैदागिन; बनारस सिटी ।